



International Journal of Advanced Academic Studies

E-ISSN: 2706-8927

P-ISSN: 2706-8919

Impact Factor: RJIF 5.12

IJAAS 2020; 2(1): 323-326

Received: 10-11-2019

Accepted: 15-12-2019

नन्दनी कुमारी

शोध-प्रज्ञा, विश्वविद्यालय
हिन्दी-विभाग, ल. ना. मिथिला
विश्वविद्यालय, कामेश्वरनगर,
दरभंगा, बिहार, भारत

रामधारी सिंह दिवाकर के उपन्यासों में युगबोध

नन्दनी कुमारी

सारांश

आज की बदली हुई परिस्थिति में गाँव की स्थिति ऐसी बनकर रह गयी है कि अपने ही खेत में अपने हाथों से खेती करने वाला व्यक्ति हेय दृष्टि से देखा जाता है। दूसरी ओर येन-केन प्रकारेण पैसा बटोरने वाले भ्रष्ट चरित्र समाज के लिए आदरणीय एवं आदर्श बन गये हैं। आज बस पैसा, मात्र पैसा ही सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार बन गया है।

मुख्य शब्द: उपन्यास, शहर, गाँव, ग्रामीण, जातिवाद

प्रस्तावना

“ईमानदारी से जीने की कोशिश एक अहमकथ्यन है और वही सफल है जो तिकड़म करके पैसा बनाना जानता है। यह सच्चाई सिर्फ शहर के जीवन की नहीं, गाँव के जीवन में भी हर जगह उजागर हो गई है। ‘क्या घर क्या परदेश’ में रामधारी सिंह दिवाकर जी ने इसी सच्चाई को कौशल और उसके परिवार की कथा-व्यथा के माध्यम से कहने का प्रयास किया है।”¹

आत्मकथा शैली में लिखे गये इस उपन्यास का कथानक ग्रामीण परिवेश और ग्रामीण मानसिकता के साथ जुड़ा हुआ है। उपन्यास का नायक परिस्थितियों से समझौता नहीं कर पाने के कारण परदेश की राह नापता है, लेकिन विडम्बना यह है कि उसे परदेश में भी इसी व्यवस्था के दबाव से जूझना पड़ता है। शोषण की प्रक्रिया वहाँ भी मौजूद है। ईमानदार और नैतिक चरित्र वाले व्यक्ति को समाज में किस प्रकार और क्यों घुट-घुट कर जीना पड़ता है— इस उपन्यास में ऐसे ही कुछ प्रश्नों को उभार कर उसके उत्तर तलाशने की कोशिश की गई है।

उपन्यास का नायक कौशल निम्न वित्त परिवार का एक पढ़ा-लिखा नौजवान है। पढ़ाई करने के उपरांत एक लम्बे अरसे तक वह नौकरी की तलाश में भटकता रहता है, पर उसे नौकरी नहीं मिलती। इस क्रम में धीरे-धीरे उसे इस बात का एहसास होते चलता है कि प्रांतीय घटकों में नौकरी के लिए जातिवाद, वंश-कुल से जुड़े संबंधों की आवश्यकता होती है या नौकरी पाने के लिए फिर कोई ऐसी राजनैतिक सुगमता अनिवार्य है। दुर्भाग्यवश इन दोनों से कौशल की दूर से भी कहीं से संबद्धता नहीं रहती। अतः उसे भटकना पड़ता है। अपनी बेकारी के दौर में वह ग्रामीण समाज की वास्तविकता से परिचित हो जाता है। बीमार बाप, बूढ़ी माँ, विधवा बहन और उसकी बेटा का एक मात्र सहारा कौशल, जो परिवार की घोर गरीबी के बाबजूद जैसे-तैसे बी. ए. तक पढ़ पाता है और फिर इन जातिवादी, वंशवादी एवं राजनीतिक कुचक्र में पिसकर वह नौकरी पाने में असमर्थ है, अन्ततः गाँव छोड़कर शहर (दिल्ली) जाने का फैसला कर लेता है। दिल्ली पहुँचकर वह नौकरी की तलाश में भटकता रहता है। यहाँ भी नौकरी उसे मरीचिका लगती है— “एक पत्रिका के पेट में अपने सर्टिफिकेट दबाये मैं एक दफ्तर से दूसरे दफ्तर घूमा करता था। उधर अखबारों में केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा रोज घोषणाएँ पढ़ने को मिल रही थीं— शिक्षित बेरोजगारों, गरीबों, भूमिहीनों, गृह-विहीनों, आदिवासियों, दलितों वगैरह की बाबत ऐसी आकर्षक योजनाओं को मैं पढ़ता और स्वयं को देखकर मुस्कराने लगता।”² हताशा के दौर में अपना खून बेचकर वह गुजारा करने को मजबूर होता है और उचाभार-सा व्यक्त करता है— “उन दिनों महानगर की उदारता का मैं शुक-गुजार हुआ था कि ऐसी-ऐसी जगहें भी यहाँ हैं।” अपने क्षेत्र के सांसद की सिफारिश से उसे एक नौकरी मिलती है— अखबार के दफ्तर में, वह भी कि उस नौकरी के लिए ‘साक्षर होना ही काफी था।’³ इस नौटंकी के दौरान वह मतिभ्रम में भटकता है जैसे उसके गाँव के चरित्रहीन संतसेवीजी और दूसरे लोग उसे कटघड़े में खड़ाकर उसका मखौल उड़ाने लगते हैं। पर धीरे-धीरे उसके आगे वह मायावी तिलिस्म खुलने लगता है। राजनीति, पंचनीति, कामनीति और षडयंत्र। और वहाँ रहकर वह इन चीजों का सामना नहीं कर पाता और अन्ततः गाँव लौट आता है। उसके पाँव वहाँ जम नहीं पाते क्योंकि वह ईमानदारी से जीना चाहता है। गाँव में मरणासन्न पिता, आर्थिक संकट और तमाम आसन्न संकट है।

कौशल गाँव में देखता है कि उसके चाचा नूनू बाबू ठेके, कॉपरेटिव आदि की तिकड़म करके सुख चैन की जिन्दगी जी रहे हैं। वहीं दलित युवा नेता रामलगन ‘दलित सांसद’ के नाम पर कई धंधे

Corresponding Author:

नन्दनी कुमारी

शोध-प्रज्ञा, विश्वविद्यालय
हिन्दी-विभाग, ल. ना. मिथिला
विश्वविद्यालय, कामेश्वरनगर,
दरभंगा, बिहार, भारत

चला रहा है। मैट्रिक तक पढ़े लड़के किसी न किसी लूट के धंधे में लगकर मजा ले रहे हैं। गाँव के चबूतरे पर बैठने वाला भिखारी रामदास सबके कारनामों का साक्षी होता है। वह जानता है कि सखीचन्द सरकारी स्टोर का सामान बेचकर ठाठ की जिन्दगी बिताता है। संतसेवी ने कृष्णा की माँ की डेढ़ बीघा जमीन हथिया रखी है और उसे पंचायत या कोर्ट कचहरी से न्याय नहीं मिलेगा। नूनू चाचा कौशल को बार-बार याद दिलाता है कि पढ़ने-लिखने से कुछ नहीं होता और पैसा कमाने की योग्यता ही सबसे बड़ी योग्यता है। पैसा कमाने का सुअवसर कौशल को भी मिलता है, किन्तु उसके साथ शर्त लगी होती है कि वह दलित सांसद की रखैल की बेटे से शादी करले।

प्रस्तुत उपन्यास में यह सत्य उजागर हुआ है कि कहने के लिए गाँवों की दुनिया जीवित है। “वहाँ वर्ण-व्यवस्था है, ऊँच-नीच है, कर्म-सिद्धांत के अनुसार पूर्वकृत कर्मों को ढोने वाली चारित्रिक हस्तियाँ हैं। परन्तु इस फरानी दुनिया में नयी दुनिया की राजनैतिक पद्धति की पोले इस ढंग से प्रवेश करती हैं कि वे शोषकों की प्रचछन्न नयी जामात बनकर कार्यरत हो जाती हैं। यह मात्र संयोग नहीं कि ऐसी नयी जामात का रिश्ता दूर सुदूर, अनाम गाँव से चलकर केन्द्र अर्थात् महानगर, राजधानी तक स्थापित हो जाता है।”⁴ इस क्रम में पाठक के पल्ले यह सत्य आ पड़ता है कि अपनी दुर्दशाओं के लिए गरीब, शोषित जन जिस ढंग से मानवेतर सत्ता को कोसते फिरते हैं— वह ठीक नहीं है। वास्तविकता इससे कुछ भिन्न है। महानगरों की मशीनी जिन्दगी से ऊबकर एक रोमानी भाव से गाँव की ओर देखने वाले लोगों को यह उपन्यास निराश ही नहीं, आगाह भी करता है। उपन्यास में कौशल जब कई सालों बाद गाँव लौटता है तब उसे गोहाल की स्थिति देखकर ही घर की स्थिति का बोध हो जाता है। परिवार की स्थिति का यह प्रतीक अपने आप में प्रतिबिम्बित कथा की तरह है। सारे उपन्यास में एक भयानक चीख व्याप्त है, दम तोड़ते हुए मूल्यों की। गाँव में आज मणिविहीन नागडीह बन गये हैं। उपन्यास के अंत में लेखक उस मणि को खोजने के लिए उध्यत दिखाई देता है— “जिसके चमत्कार से गाँव के चौपाल के टूटे चबूतरे की दीवार से एक पीपल का पेड़ फूटकर निकल सकता है।”⁵

‘क्या घर क्या परदेश’ कथ्य की व्यंजना का उपन्यास है। इसकी व्यंजना की विविध विधाएँ हमारे मन की परतों पर कहीं गहरे जगह बना लेती हैं। यहाँ गाँव और शहर दो प्रतीक हैं, जिनके इर्द-गिर्द कथा चरित्रों के कार्य-कलाप विकसित होते हैं— परन्तु यह विकसित रूप एक ऐसी त्रासदी की अनुभावना देता है जो अन्यत्र विरल है। ग्राम और शहर दोनों में आदमी एक ही ढंग से पिस्तता है। गाँव में असुरक्षा का भाव ग्रामीण समाज के मूल्य विधानों पर अपनी आर्थिक तथा जातीय हैसियत रखने वाले आधिपत्य रखते हैं :- शहरों में अलगगाँव अर्थात् निस्पृहता के रहते हुए भी कुछ शक्तियाँ हैं जो ‘मनुष्य’ के लिए असुरक्षा, आतंक और तनाव बनाये रखती हैं। विवेच्य उपन्यास का मूल व्यंजना-कौशल इसकी तुलना नहीं करता वरन् वह कौशल जैसे चरित्र के माध्यम से स्पष्ट करता है कि मूल्य, सदाचार, सत्य आदि चीजें अब विपन्नता के तमगे भर बन रह गये हैं।

प्रस्तुत उपन्यास का प्रतिपाद्य असलियत के खौफनाक चेहरे की निर्मिति के लिए उत्तरदायी भौतिक शक्तियों को जानना, वे भौतिक शक्तियाँ जो न जाने किन-किन दुरभि संधियों के आचरणगत मूल्यों की अपने अनुरूप व्याख्या देती है— उससे परिचित होना रहा है। यह एक तरह से यथार्थ के बाहरी परिवेश की स्थिति के भीतरी रूप को जानना है। यह यथार्थ अर्थात् एक ग्राम समाज में कुल संस्कारों के अवशेष ढोता हुआ विपन्न परिवार और उसका सुशिक्षित एक मात्र सहारा नवयुवक कौशल ही नहीं, बल्कि युवक के सपनों पर आधिपत्य रखने वाले कुचक्रों का अन्तर्गतार्थ है— जो सामान्य रूप से औसत भारतीय की जिन्दगी को ‘कीलित’ किये हुए है। अतः भौगोलिक रूप से बिहार

में पिछड़े गाँव, शहर, महानगर, दिल्ली जैसी स्थानिक संज्ञाएँ ही इस उपन्यास की सीमा नहीं, अपितु यह एक प्रकार से उस सार्वजनिक स्थिति को अपने में समेटता है जो सर्वत्र विद्यमान है और हम खुली आँखों से उसे देखते हैं।

‘काली सुबह का सूरज’ दिवाकरजी द्वारा प्रस्तुत एक लघु उपन्यास है। गाँव की पृष्ठभूमि पर लिखे गये इस उपन्यास में दिवाकरजी ने गाँव-शहर के द्वन्द्व को बड़ी सहजता के साथ उकेरा है।

गाँव-जबार में जीने वालों की सहजता और निष्कपट संबंधों के बीच एक अन्तर्निहित संवेदना काम करती है, जो परिवार-मुहल्ले को आपस में जोड़ती है और यही उनकी धरोहर है। आज पढ़े-लिखे लोग गाँव को छोड़कर शहर में जाकर बसते रहे हैं। शहर की रौनक, मात्र भाग-दौड़ और एक दूसरे से चढ़बढ़कर जीने की प्रतिबद्धता में ऐसे लोग संबंध से निश्छल निर्वाह और आत्मीयता से कटते चले जाते हैं और स्वार्थ, ईर्ष्या और झूठ के जजाल में फंसते चले जाते हैं। यह शहर-नगर का अभिशाप है। विवेच्य उपन्यास में देहात से शहर आने वाले निम्न मध्य वर्ग के एक तथाकथित ‘बुद्धिजीवी’ कहे जाने वाले प्राध्यापक नरेन्द्र की अन्दरूनी कथा को ‘महकार’ के प्रतीकार्थ द्वारा प्रक्षेपित किया गया है। नायक नरेन्द्र जो अपने जीवन स्तर को उन्नत करने की प्रक्रिया में निरंतर गिरता जाता है— “छोटे बेल के आकार का महकार का सुर्ख लाल फल, ऊपर से निहायत खूबसूरत, मोहक और आकर्षक और भीतर से बदबूदार और बेहद धिनौना।” नरेन्द्र की कहानी छोटी सुविधाओं और साधनों की प्राप्ति के लोभ, देश के सामाजिक जीवन में ‘बुद्धिजीवी’ कहलाये जाने वाले व्यक्तियों की आदमियत के बिकने की कहानी है।⁶

गरीब किन्तु स्वाभिमानी पिता अपना पेट काटकर नरेन्द्र को पढ़ाता है। नरेन्द्र पढ़-लिखकर विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हो जाता है। पर पिता को उस समय गहरा सदमा पहुँचता है, जब नरेन्द्र उनकी इच्छा के खिलाफ उन्हें बताये बिना अपनी सहपाठिन विभा से शादी कर लेता है। शादी के बाद वह जैसे गाँव एवं घर से कट जाता है। शिक्षित पत्नी स्वार्थ का धिनौना परिचय ही नहीं देती अपितु पति नरेन्द्र को ‘महकार’ बनने के लिए विवश भी करती है। मरणासन्न पिता नरेन्द्र से कहता है— “मैंने बड़ी मुश्किल से इस परिवार को किसी तरह सम्हाला है। अब भार तुम्हारे ऊपर है, बिंदा का विवाह करा देना किसी अच्छी जगह।”⁷

बिंदा उसकी फुफेरी बहन है। बुआ विधवा हो गई है। पूरा जीवन वह अपने भाई की शरण में ही रही। बिंदा के विवाह को माध्यम बनाकर नरेन्द्र और विभा अपना घर भरना चाहते हैं और इसी के द्वारा लेखक ‘काली सुबह का सूरज’ रूपायित करता है।

देहात में रहने वाली एक दम सीधी-सादी किन्तु ऐन मौके पर तन जाने वाली नरेन्द्र की माँ, गाँव के सिरनाथ चाचा, राँची में नरेन्द्र के छोटे भाई दिनेश का इलाज कराने वाला रामफल कथा के ऐसे पात्र हैं जो जीवन के अन्तर्व्यक्तिक सामाजिक संबंधों और उनके बदलते रूपों की गहरी समझ रखते हैं और अभावों में जीने पर भी अपनी संवेदनीयता नहीं खोते। इन पात्रों में मिलने वाले वैचारिक स्फुलिंग की प्रकृति मानवीय है। इसका रहस्य उस मानव जीवन में छिपा है जिसमें जरूरतें कम हैं और जीवन का लक्ष्य दिखावे के लिए समृद्ध या साधन की उपलब्धि नहीं।

उपन्यास में हम देखते हैं कि नरेन्द्र और उसकी पत्नी विभा के लिए जीवन स्तर का निर्धारण और उसकी माप प्रीज, टी.वी. और गाड़ी से ही होती है। नरेन्द्र की पत्नी विभा सोचती है— “अपने पास कुछ तो हो!” नरेन्द्र सोचता है सिर्फ वेतन के पैसे से कुछ होने वाला नहीं है। खाते-पहनते आफत रहती है। रुपये आ गये हैं हाथ में तो कुछ खरीद लिया जाय।”⁸

ये रुपये नरेन्द्र को रामलाल ने दिये हैं बिंदा की शादी के लिए खर्च के नाम पर।”..... उग्र ही कुछ ज्यादा है न! लेकिन उग्र

कौन देखता है? घर सुखी संपन्न है। लाखों की जायदाद है रामलालजी के पास। कोई बहाना कर दिया जाएगा कोई पूछेंगे तो। झूठ तो बोलना ही पड़ेगा। दस हजार रुपये काफी थे। उसने और विभा ने मिल बैठकर विचार किया। बिंदा की शादी में खर्च ही क्या होगा? तीन-चार हजार रुपये में सब हो जायगा। फिर टाट-बाट या शोर-शराबे के साथ शादी करनी नहीं है। चार हजार रुपये में गहने कपड़े और विवाह का पूरा खर्च निकल जाएगा। रामलालजी तो और रुपये देंगे ही। खुद बोले हैं जो घटेगा-बढ़ेगा, शादी के समय देंगे।.... "विभा ने सलाह दी कि हाथ में रुपये हैं ही, कुछ काम कर लिए जाएं। कॉलेज में वेतन के जो रुपये हैं उनसे तो घर का खर्च भी मुश्किल से चलता है, शौक की चीजें क्या खरीदी जायेंगी भला। वह तो संयोग लग गया और बिंदा का रिश्ता तय हो गया। रुपये भी मिल गये। उल्टे उन रुपयों से टी.वी. और फ्रीज खरीदने के बाद मन ही मन कॉलेज में अन्य प्राध्यापक मित्रों से अपनी स्थिति की तुलना करता है और अपने को अधिक सुविधा-संपन्न समझता है।" 9 विभा अपनी तुलना भाभी से करती है- "बड़ा जमाती हैं बड़ी भाभी। यह है, वह है अपने पास। अब बुलाऊँगी बड़ी भाभी को। फ्रीज से सामान निकालकर खिलाऊँगी और टी.वी. के सामने बिठाऊँगी तब समझेंगी कि हाँ, विभा भी कुछ है।" 10 विभा का छोटा भाई अनिल भी इन चीजों से अपने साथियों के बीच अपने को अधिक प्रतिष्ठित अनुभव करने लगता है। किन्तु इसी बीच विभा का बड़ा भाई अनूप नरेन्द्र के घर आता है। वह मजाक में चिकोटी काटता है, "बहुत सामान खरीद लिये हैं अचानक। कहीं रामलालजी के रुपये खर्च तो नहीं हो रहे।" 11 "हँसी-हँसी में यह तलखी नरेन्द्र को आत्मदया से भर देती है। किन्तु नरेन्द्र और विभा के मन में इतनी घुन लग गई है कि इससे कोई सुधार उनमें नहीं होता। प्रतिक्रिया मर जाती है। अनूप दूसरे दिन चले गये लेकिन विभा के मन में काँटा पड़ गया था।" 12 अपने विवाह पर भी विभा को आत्मक्लेश हुआ था। विभा और नरेन्द्र दोनों के मन में अनूप के प्रति घृणा फैल गयी। यह भय भी हुआ कि रामलाल, बूआ, माँ और सिरनाथ चाचा को कहीं वास्तविक स्थिति का पता न चल जाए। रामलाल को दस हजार नहीं लौटाने के लोभ में बिंदा का अच्छा रिश्ता करवाते समय नरेन्द्र की नजर घर की कुबड़ी मुडेर पर बैठे एक कौए पर पड़ती है जिसकी चोंच में कोई जिंदा चीज दबी हुई है। बिंदा की आँखें नरेन्द्र की पीठ पर जहरीले तीरों की तरह धंसती हैं। पाठक नरेन्द्र को लोभ में पड़े कौए के रूप में देखता है। जिसकी चोंच में स्वार्थ-पूर्ति में नुचवाने के लिए बहन का जिंदा मांस है। अन्त में वह दिन आता है कि दिन नहीं रात, जब बिंदा का विवाह होना तय है। बिंदा को कसाई के हवाले कर दिया जाता है। सिर्फ तीन स्त्रियाँ बिंदा को विदा करने आयीं। बिंदा को बलपूर्वक कार में ढकेला जाता है। "उस समय तक सूर्योदय नहीं हुआ था, लेकिन क्षितिज पर रक्त-गंगा की धारा बह रही थी।" 13 इस झुटफफटे का फायदा उठाकर नरेन्द्र भी अपनी अटैची लेकर शहर के लिए निकल भागता है। घृणित और कुत्सित यथार्थ को जीने वाला नरेन्द्र निम्न मध्य वर्ग के लिए अनजाना पात्र नहीं है। अभावग्रस्त रहकर भी उसे पढ़ाने वाले पिता जब दुनिया से गुजरते हैं तो वह सोचता है- "बाबूजी ने ढंग का खाना खाया था दवाई खाई, दोनों बातें घुमा फिराकर एक ही अर्थ देती है।" 14 बूढ़े पिता की जिन्दगी को वह निरर्थक मानता है और उसकी धारणा है- "बाबूजी जंजाल में फंसकर मरे हैं।" 15 अपनी पत्नी विभा के दबाव में भाई दिनेश के साथ किया गया उसका अमानुषिक व्यवहार और पत्नी की मंत्रणा से बहन बिंदा के विवाह के पैसे बनाने के हथकंडे तक गिराकर ले जाना कल्पित अथवा अविश्वसनीय नहीं लगता, क्योंकि ऐसे प्रसंगों से उच्च मध्यवर्ग के लोगों को प्रायः हम गुजरते देखते हैं। कथा के आरंभ में नरेन्द्र के पिता से चलने वाली अनबन माँ पर केन्द्रित

हो जाती है, क्योंकि पिता की मृत्यु के बाद माँ पिता की भूमिका में होती है। माँ उसे जमीन बेचने नहीं देती और उसके सामने नरेन्द्र के छल भरे तर्क डगमगाने लगते हैं। माँ जमीन को दांत से पकड़े हुए थी। नरेन्द्र से प्रगाढ़ आत्मीयता और वात्सल्य के बावजूद उनके अंदर विद्रोह से भरा एक अपरिचित पक्ष था जो जमीन बेचने के प्रस्ताव पर फूट पड़ता था। यह केवल नरेन्द्र के परिवार की कहानी मात्र नहीं है, अनेक परिवारों की कहानी है। "किसी खेतिहर परिवार में जमीन इस हद तक जीने-मरने के सवाल से जुड़ी होती है," 16 दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में इतना चर्चित होने वाला विद्वान नरेन्द्र कैसे समझे? वह तो बिंदा की शादी के बहाने गाँव की थोड़ी-सी जमीन बेचकर पटना जमीन खरीदना चाहता है।

शहर का शिक्षित व्यक्ति किस कदर स्वार्थी हो गया है और अपने ही लोगों की लाशों पर महल खड़े करना चाहता है। मध्यवर्गीय शहरी आदमी शान बनाए रखने के लिए शोषण पर उतर आता है। यही सुबह का कालापन है।

इसकी एक बड़ी विशेषता यह है कि इसका कथा-प्रवाह और कुछ 'टिपिकल' चरित्रों की सृष्टि डालडा सुराजी, महाबीर मियाँ, बीपी अकेला, खड़कू झा आदि चरित्र स्मृति पर अमिट निशान छोड़ जाते हैं। गाँव की प्रवंचित आबादियाँ गलत-सही रास्तों से कभी भूलती- भटकती और कभी सधे कदमों से चलती हुई आज जिस मुकाम तक अपने अस्तित्व की लड़ाइयों को ले आयी हैं, वे लड़ाइयाँ अभी जारी हैं। दिवाकर गाँव पर लिखने वाले अन्य लेखकों से इस अर्थ में भिन्न और विशिष्ट हैं कि उन्होंने अतीत राग से मुक्त होकर आज के बनते हुए गाँव की कथा, वहाँ की बोली-बानी से सिक्त भाषा में लिखा है। समकाल का संवाहक और नये युग का संकेतक 'अकाल सन्ध्या' के अनेक पात्रों में से एक महत्त्वपूर्ण पात्र है 'माई', जो अपने गाँव और समाज का पूरा व्यक्तित्व समेटे हुए है। माई का बेटा नन्दू पढ़-लिखकर अमेरिका चला जाता है और कुछ दिनों बाद वह अपने पूरे परिवार को भी ले जाता है। अकेली रह जाती है तो सिर्फ माई। यह है आज के पढ़े लिखे भारतीय समाज का चित्र। भारतीय राजनीति कम पढ़े-लिखे लोगों के हाथ में साँपी जा रही है। हमारे प्रगतिशील समाज की पंगु मानसिकता कितनी खतरनाक है।

निष्कर्ष

लेखक ने उपन्यास के जरिए बिहार के ही नहीं, अपितु पूरी भारतीय राजनीति के चित्र को उधेड़ा है, जिससे आप यह अंदाजा लगा सकते हैं कि राजनीति करने की मुहिम में आज हमारे गाँव किस कदर डूबे हुए हैं। पश्चिम की विस्तारवाद की नीतियों से लेकर भारतीय राजनीति और उसमें साँस लेते समाज की सशक्त अभिव्यक्ति है यह उपन्यास- 'अकाल सन्ध्या' रामधारी सिंह दिवाकर का सप्तम प्रकाशित उपन्यास 'दाखिल-खारिज' (2013) है। गाँव की टूटती-बिखरती सामाजिक व्यवस्था में छीजते जा रहे मानवीय मूल्यों को कथान्वित करने वाला यह उपन्यास 'दाखिल-खारिज' रामधारी सिंह दिवाकर की नीवनतम कथाकृति है। अपने छोटे हुए गाँव के लिए कुछ करने के सपनों और संकल्पों के साथ प्रोफेसर प्रमोद सिंह का गाँव लौटना और बेरहमी से उनको खारिज किया जाना आज के बदलते हुए गाँव का निर्मम यथार्थ है। यह कैसा गाँव है जहाँ बलात्कार मामूली सी घटना है। हत्यारे, दुराचारी, बलात्कारी और बाहुबली लोकतांत्रिक व्यवस्था और सरकारी तंत्र को अपने हिसाब से संचालित करते हैं। सुराज के मायावी सपनों और पंचायती राज- व्यवस्था में पंचायतों को प्रदत्त अधिकार धन की लूट के स्रोत बन जाते हैं। सीमान्त किसान खेती छोड़ 'मनरेगा' में मजदूरी को बेहतर विकल्प मानते हैं। ऐसे विकृत-विखंडित होते गाँव की पीड़ा को ग्रामीण चेतना के कथाशिल्पी रामधारी सिंह दिवाकर ने पूरी संलग्नता और गहरी संवेदना से उक्रेने का

प्रयास किया है। हिन्दी कथा साहित्य से लगभग बहिष्कृत होते गाँव को विषय बनाकर लिखे गए इस सशक्त उपन्यास को 'कथा में गाँव के पूनर्वास' के रूप में भी देखा-परखा जाएगा, ऐसी आशा है।

संदर्भ

1. भारतीय गाँव का यथार्थ- मस्तराम कपूर, ग्रामीण जीवन का समाजशास्त्र, ले.- जीतेन्द्र वर्मा, पृ.- 124
2. क्या घर क्या परदेश (उपन्यास), दिवाकर (प्र. से.), पृ.- 68
3. वही, पृ.- 72
4. गाँव से महानगर की खामोश यात्रा- गंगा प्रसाद विमल- गगनांचल, दिल्ली, अंक- 2 -1984
5. क्या घर क्या परदेश (उपन्यास), दिवाकर (प्र. से.), पृ.- 201
6. इंसान के पर्दे में रुठा है खुदा हमसे, क्या घर की दुआ मांगो, उस घर की दुआ मांगो- अमर कुमार सिंह- दैनिक पाटलिपुत्र टाइम्स, पटना 24 नवम्बर 1985
7. काली सुबह का सूरज (उपन्यास), ले. दिवाकर, पृ.- 28
8. वही, पृ.- 34
9. वही, पृ.- 49
10. वही, पृ.- 50
11. वही, पृ.- 53
12. वही, पृ.- 54
13. वही, पृ.- 102
14. वही, पृ.- 46
15. वही, पृ.- 47
16. वही, पृ.- 50